ज्ञान तत्व 362

मंथन कमांक 52 राईट टू रिकाल

कुछ सर्व स्वीकृत सिद्धान्त हैं।

1 व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक होते है। दोनो के अलग अलग अस्तित्व हैं और अलग अलग सीमाएं भी ।

2 अधिकार और शक्ति अलग अलग होते है । अधिकार को राईट और शक्ति को पावर कहा जाता है । जब किसी व्यक्ति के अधिकार किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाते हैं तब वह शक्ति बन जाते हैं।

3 कोई अधिकार किसी अन्य को दिये जाते हैं तो वे दाता की अमानत होते हैं ग्रहण कर्ता के अधिकार नहीं।

4 नियोक्ता को नियुक्त के अनुशासन, निलंबन या निष्कासन का अधिकार होता है। इस अधिकार को चुनौती नहीं दी जा सकती ।

5 यदि नियोक्ता पागल हो जाये, नाबालिग हो अथवा गंभीर रूप से बीमार हो तभी उसके अधिकार किसी को स्थानांतरित हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

6 समाज व्यक्ति को अनुशासित करने के लिये संवैधानिक व्यवस्था बनाता है और संविधान व्यक्ति को नियंत्रित करने के लिये कानूनी व्यवस्था बनाता है।

7 राजनैतिक व्यवस्था और राजनेता एक दूसरे के पूरक होते है। दोनों मिलकर समाज को गुलाम बनाने में सफल होते है।

भारत की राजनैतिक व्यवस्था के संचालन के लिये एक संविधान बना । संविधान बनाने में समाज शास्त्रियों की भूमिका शुन्य रखी गई और राजनेताओ के बीच ही जोड तोड करके अंग्रेजो ने एक संविधान सभा बना दी। संविधान सभा को आधार बनाकर राजनेताओं ने बुरी नीयत से संविधान मे तीन ऐसे प्रावधान कर दिये जिसका लाभ उठाकर सत्तर वर्षो से राजनैतिक व्यवस्था समाज को कमजोर तथा स्वयं को मजबूत बनाती जा रही है। 1 संविधान संशोधन के अंतिम अधिकार से समाज को बिल्कुल बाहर करके सारे अधिकार तंत्र के पास रख लिये गये। 2 समाज को नाबालिग मानकर तंत्र को संरक्षक तो घोषित कर दिया गया किन्तु यह व्यवस्था नहीं की गई कि किस परीक्षण के बाद समाज बालिग माना जायेगा। 3 सांसदो की नियुक्ति तो जनता द्वारा करने की व्यवस्था की गई किन्तु उनपर नियंत्रण से जनता को बाहर कर दिया गया। उपरोक्त तीन प्रावधान ऐसे रहे जो भारत की राजनैतिक व्यवस्था मे सब प्रकार की बुराइयो की जड बने। सत्तर वर्षो का निष्कर्ष बताता है कि तंत्र और विशेषकर संसद अपने शक्ति विस्तार की छीना झपटी मे लगी रही। संसद मे पहुंचने के लिये सब प्रकार के अनैतिक साधन भी उपयोग किये जाने लगे । पैसा,लोभ, लालच, शराब, पावर, धूर्तता, बल प्रयोग और हत्या तक का आश्रय लिया जाने लगा। अब तो राजनैतिक हत्याएं आम तौर पर होने लगी हैं जो संसद से बढते बढते पंचायत चुनाव तक पहुच गई हैं। राजनैतिक पद को सम्मान सुविधा और शक्ति के एकत्रीकरण का सबसे अच्छा मार्ग मान लिया गया है। अच्छे अच्छे सम्मानित धर्म गुरू भी सांसद मंत्री या प्रधानमंत्री बनने की लालसा और तिकडम करते देखे जा सकते हैं। राहुल गांधी सरीखा गांधी बनने की योग्यता रखने वाला व्यक्ति भी गांधी की जगह प्रधान मंत्री जैसे पद के लिये छीना झपटी मे लगा है। राजनैतिक पद के लिये सुप्रीम कोर्ट के रिटायर्ड जज भी प्रयत्नशील रहते है। कोई भी व्यक्ति राजनैतिक पद प्राप्त करने के लिये साम, दाम, दंड, भेद के चारो सूत्रों का लगातार प्रयोग करता रहता है क्योकि हर व्यक्ति चाहता है कि एक बार वहां पहुच जाने के बाद उसकी सात पीढियां तक स्वर्ग का सुख पाने की पात्र बन जाती हैं। हर व्यक्ति जानता है कि वहां पहुच जाने के बाद उसे पांच वर्षो तक उस पद से कोई भी नही हटा सकता। वह पांच वर्षो के लिये तो अजर अमर सर्व शक्तिमान बन ही जाता है। साथ ही वह ऐसी बिरादरी मे पहुंच जाता है जहां उसे भविष्य मे भी उस खेल का खिलाडी बने रहने का अवसर मिल जाता है।

आश्चर्य की बात यह है कि एक बार चुन लिये जाने के बाद उसे नियुक्ति कर्ता का कोई भय नहीं रहता। जिस सांसद को जनता जन प्रतिनीधि नियुक्त करती है वही जनता नियुक्ति के बाद वह उसपर कोई अनुशासन नही बना सकती। किन्तु जनता द्वारा नियुक्त सांसद को राजनैतिक दल जब चाहे तब संसद से भी निकाल सकता है, संसद तो निकाल ही सकती है। उस जन प्रतिनिधि को संसद मे भी जनता की राय रखने की स्वतंत्रता नहीं बल्कि उसे दल की गुलामी के लिये बाध्य कर दिया जाता है। यह भारत का एक विचित्र लोकतंत्र है जहां सांसद संसद मे भी स्वतंत्रता से बोल नही सकता।

इन सब अव्यवस्थाओं का सिर्फ एक ही कारण है कि जनता जिसे नियुक्त करती है उसे अनुशासित निलंबित या निष्कासित करने का उसे कोई अधिकार नहीं । वह पांच वर्षो के लिये जनता का कोई भय नहीं मानता । यदि कोई ऐसा तरीका बना होता कि निर्वाचक मंडल कभी भी बिना कारण बताये सांसद को पद मुक्त कर सकता है तो सारा वातावरण बदल सकता है। हर राजनेता के सिर पर जनता की एक ऐसी तलवार लटकी रहेगी जो उसे रात के सपने मे भी गलत करने के रोकती रहेगी। मै आज तक नहीं समझा कि जब अधिकार जनता की अमानत है तो अपनी अमानत जनता जब चाहे तब वापस क्यो नहीं मांग सकती। जनता ने राजनैतिक पद सांसद को उधार नहीं दिया है बल्कि अमानत दी है । मै स्पष्ट कर दूं कि भारतीय संविधान के अनुसार किसी भी व्यक्ति को स्वयं चुनाव लडने की स्वतंत्रता नही है। वह तो किसी अन्य के प्रस्ताव और समर्थन के बाद अपसी स्वीकृति मात्र देता है। अपनी इच्छा व्यक्त नहीं कर सकता। इतनी स्पष्ट व्यवस्था के बाद भी पता नहीं क्यो लाल कृष्ण आडवाणी सरीखे नेता भी इस पद को जनता की अमानत नही मानते। जब आप सेवक मात्र हैं और समाज आपको सेवा मुक्त करना चाहता है तो आपको कष्ट क्यों है। इसलिये सेवा करने वालो द्वारा रिकाल का पूरी तरह समर्थन होना चाहिये। यह अलग बात है कि जो लोग राजनैतिक पद को लूट का माल समझते है वे इस रिकाल व्यवस्था का विरोध करेंगे ही । क्योकि राजनैतिक पद ही उनके लिये जीवन मरण का प्रश्न है और उस पद का दुरूपयोग करने के लिये वह सेवा का नाम देता है।

रिकाल का तरीका भी कठिन नहीं है। कई तरीके हो सकते हैं । चुनाव के समय ही हर लोक सभा क्षेत्र के लिये एक, दो या पांच दस हजार लोगो को चुना जा सकता है जो रिकाल का अंतिम निर्णय कर सकें। लोक सभा क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले निर्वाचित ब्लाक प्रमुखों के प्रस्ताव पर हां और नां को आधार बनाकर भी मतदान कराया जा सकता है। अथवा इस प्रस्ताव पर सभी पंच या सरपंच वोट दे सकते है। यह भी संभव है कि ऐसे प्रस्ताव पर सौ अंको मे से लौटरी द्वारा एक अंक चुनकर उस अंक की मतदाता सूची के आधार पर मतदान हो सकता है। आम चुनाव के समय ही सौ लोगो की एक अलग समिति बन सकती है जो सांसद पर अविश्वास का प्रस्ताव रख सकती है। इसके अतिरिक्त भी कई अलग तरीकों पर विचार हो सकता है। रिकाल के तरीके निकालना कठिन कार्य नहीं कठिन कार्य तो यह है कि रिकाल के लिये वर्तमान संसद को कैसे सहमत या मजबूर किया किया? एक बार हमारे पहरेदार के हाथ मे बंदूक चली गई है और वह उस बंदूक के सहारे मालिक को गुलाम बनाकर रखना चाहता है तो बंदूक वापस होना एक मात्र मार्ग होते हुए भी तरीका निकालना बडा कठिन है। जय प्रकाश जी अन्ना हजारे सहित कई लोगो ने ऐसी पहल की किन्तु कुछ नहीं हो सका। फिर भी रिकाल के प्रावधान की आवश्यकता अब भी बहुत महत्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि राईट टू रिकॉल ही व्यवस्था परिवर्तन का अकेला आधार बन सकता हैं क्योकि राजनैतिक व्यवस्था राजनेताओं को मजबूत करती है तो राजनेता राजनैतिक व्यवस्था को मजबूत करते है। राईट टू रिकॉल राजनेताओं पर तो अंकुश लगा सकेगा किन्तु राजनैतिक व्यवस्था पर अंकुश के लिए कुछ अलग प्रावधान करने होंगे। फिर भी रिकाल भारतीय राजनीति के शुद्धिकरण का मजबूत आधार बन सकता है। यदि अभी हम और कुछ नही भी कर सकते है तो इस संबंध मे जन जागृति से तो शुरूआत कर ही सकते हैं। हमे जन जागृति करनी चाहिये।

मंथन कमांक 53

पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद

कुछ सर्वस्वीकृत सिद्धांत हैं–

1 न्याय और व्यवस्था एक दूसरे के पूरक होते है। दोनों का अस्तित्व भी एक दूसरे पर निर्भर होता है।

2 तीन असमानतायें घातक होती हैं–1 सामाजिक असमानता 2 आर्थिक असमानता 3 राजनैतिक असमानता। सुव्यवस्था के लिए तीनों का संतुलन आवश्यक है।

3राज्य के पास शक्ति होने से वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को हमेशा दबाने का प्रयास करता है। इसलिए राज्य के प्रति अन्य दो को हमेशा सतर्क रहना चाहिए।

4 साम्यवाद दुनिया की सबसे अधिक खतरनाक विचारधारा है। दुनिया में साम्यवाद में सबसे अधिक बुद्धिजीवी और चालाक लोग पाये जाते हैं।

5 किसी सफल व्यवस्था की पहचान जिस शब्द के साथ हो जाती है उसकी नकल करके अर्थ बदलने का प्रयास होता है। धर्म के साथ भी यही हुआ और समाज शब्द के साथ भी ।
6 दुनिया में सम्पत्ति अधिकार संबंधी तीन प्रकार की व्यवस्थायें प्रचलित हैं–1 व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार 2 सरकारी सम्पत्ति का अधिकार 3 ट्रस्टीशिप का सिद्धांत। पूँजीवाद में व्यक्तिगत, साम्यवाद में राष्ट्रीय तथा गांधीवाद में ट्रस्टीशिप का सम्पत्ति सिद्धांत प्रचलित है।
7सम्पत्ति व्यक्ति का मौलिक अधिकार है कोई भी व्यवस्था वैध तरीके से अर्जित सम्पत्ति की अधिकतम सीमा नहीं बना सकती।
8 आर्थिक समस्याओं का आर्थिक समाधान ही उचित होता है प्रशासनिक नहीं। राज्य आर्थिक समस्याओं का प्रशासनिक समाधान खोजने का असफल प्रयास करता है।

प्राचीन समय में आर्थिक, राजनैतिक और समाजिक व्यवस्था में पूरी तरह समाजवाद था। राजतंत्र आया तो व्यवस्था में विकृतियां पैदा हुईं। राजतंत्र के बाद लोकतंत्र आया जिसमें श्रमशोषण का समाधान नहीं हो सका। इस कमजोरी का लाभ उठाकर साम्यवाद ने अपने पैर फैलाये। पूँजीवाद ने लोकतंत्र के साथ तालमेल किया तो साम्यवाद ने तानाशाही के साथ। स्पष्ट है कि तानाशाही बहुत कम समय में सफल होती है किन्तु वह समाज को गुलाम बना लेने के कारण सबसे बुरा सिद्धांत है । स्पष्ट है कि साम्यवाद तानाशाही के साथ तालमेल करने के कारण सफलता की सीढियां चढने लगा। लोकतंत्र और पूँजीवाद को खतरा दिखा। तब समाजवाद नामक एक बीच का मार्ग निकला जो आर्थिक मामलों में साम्यवाद के निकट था तो राजनैतिक मामलों में लोकतंत्र के निकट। साम्यवाद केन्द्रियकरण तथा हिंसा पर विश्वास करता है। पूँजीवाद अकेन्द्रियकरण तथा अहिंसा पर विश्वास करता है। समाजवाद विकेन्द्रीयकरण तथा अहिंसा का पक्षधर है किन्तु राष्ट्रीयकरण वर्ग विद्वेष अथवा अर्थव्यवस्था में राज्य के हस्तक्षेप के मामले में समाजवाद, पूँजीवाद विरोधी है।

हम वर्तमान भारत की समीक्षा करें। साम्यवाद आर्थिक और राजनैतिक स्तर पर समाप्ति की ओर है। साम्यवादी अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए नये नये तरीके खोज रहे हैं। साम्यवादी की कुछ विशेष पहचान होती हैं–
1 वह सिर्फ न्याय की बात करता है व्यवस्था की बात नहीं करता। अधिकार की बात करता है , कर्तव्य की नहीं।
2 वह आर्थिक और सामाजिक असामानता का खुला विरोध करता है किन्तु राजनैतिक असमानता के विषय में चुप रहता है। बल्कि आमतौर पर वह सत्ता संघर्ष में सक्रिय तत्वों से तालमेल करता है।
3 वह वर्ग विद्वेष बढाने के हर प्रयास में निरंतर सक्रिय रहता है। विशेष रुप से अमीरी और गरीबी के नाम पर वह दिन रात प्रयत्नशील रहता है। कुछ लोग तो अमीरी गरीबी को एकमात्र मुददा मानकर सक्रिय रहते है।
4 वह गरीब अमीर के बीच की खाई को कभी कम नहीं होने देता इसलिए वह डीजल,पेट्रोल की मूल्यवृद्धि का सबसे अधिक विरोध करता है। क्योकि यदि खाई घट गई तो उनका राजनैतिक जीवन ही अंधकार मय हो जायेगा।
5 वह पूँजीवाद का खुलकर विरोध करता है किन्तु कोई विकल्प की चर्चा नहीं करता।

आज भारत में गली गली में आपको ऐसे लोग मिल जायेंगे जो उपरोक्त पांच पहचानो पर खरे उतरते है। ऐसे लोग साम्यवाद की प्रशंसा भी नहीं कर पाते। ऐसे लोगों को ही प्रच्छन्न साम्यवादी मानना चाहिये। समाजवादी भी ऐसे कुछ मामलों में साम्यवादियों के साथ तालमेल करते दिखते है। आजकल तो कुछ प्रछन्न साम्यवादी साम्यवाद शब्द का विरोध भी करते दिखते है किन्तु आर्थिक और राजनैतिक मामलों में उनकी पूरी कार्यप्रणाली साम्यवाद के समान दिखती है। इसलिए वर्तमान समय में खतरा घोषित साम्यवादियों से कम और अघोषित साम्यवादियों से अधिक है। समाजवाद अपने आप भारत में असफल दिखने लगा है । इन परिस्थितियों में साफ दिखता है कि पूरी दुनिया और विशेषकर भारत में भी आर्थिक और लोकतांत्रिक मामले में पूँजीवाद एकमात्र सफल व्यवस्था के रुप में आगे बढ रहा है। उसे कोई चुनौती नहीं है।

पूँजीवाद और लोकतंत्र की संयुक्त व्यवस्था भले ही साम्यवाद और तानाशाही की संयुक्त व्यवस्था की तुलना में सर्वस्वीकृत दिखने लगी हो किन्तु यह आदर्श व्यवस्था नहीं हो सकती। आदर्श व्यवस्था तो भारत की प्राचीन समाजवादी व्यवस्था ही हो सकती है जिसकी नकल करके समाजवाद शब्द ने उसे विकृत कर दिया। इसलिए

अब आवश्यक होगा कि सामाजवादी शब्द के स्थान पर समाजीकरण शब्द का प्रयोग किया जाये। मेरे विचार में समाजीकरण लोकतंत्र और पूॅजीवाद की संयुक्त व्यवस्था का अच्छा समाधान हो सकता है। इसमें अर्थव्यवस्था, शासन व्यवस्था तथा समाजव्यवस्था का अकेन्द्रित स्वरुप एक जगह पर इकट्ठा दिखता है। जिसका अर्थ है परिवार और गांवो को अपने अपने आंतरिक मामलो में सब प्रकार की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था करने की असीम स्वतंत्रता। परिवार और गांव के आंतरिक मामलों में बिना उनकी सहमति के राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। यह व्यवस्था सब प्रकार की समस्याओं का समाधान बन सकती है। इसमें पूॅजीवादके समान सम्पत्ति पर व्यक्ति का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होगा तथा सम्पत्ति सरकार की भी नहीं होगी। सम्पत्ति परिवार की संयुक्त होगी। यदि गांव मिलकर सर्वसम्मति से सम्पत्ति को गांव की घोषित करे तो उसे छूट होगी। परिवार भारत की पारिवारिक परिवार व्यवस्था और साम्यवाद की कम्यून व्यवस्था के बीच का स्वरुप ग्रहण करेगा। जिसका स्वरुप होगा संयुक्त सम्पत्ति और संयुक्त उत्तरदायित्व के आधार पर एक साथ रहने के लिए सहमत व्यक्तियों का समूह। समाजीकरण में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के संचालन में राज्य की जगह गांव को अपनी आंतरिक स्वतंत्रता होगी। यह व्यवस्था आदर्श हो सकती है। इसे लोक स्वराज्य शब्द से भी जोडकर देख सकते है। मैं जानता हूॅ कि समाजीकरण को कोई भी अन्य व्यवस्था आगे नहीं बढने देगी किन्तु यह एक आदर्श व्यवस्था है और समाज धीरे धीरे इस दिशा में बढ सकता है जिसकी शुरुवात भारत से हो सकती है हमारा कर्तव्य है कि हम साम्यवाद को तो अपना प्रमुख शत्रु माने ही समाजवाद को भी अपना विरोधी माने। पूॅजीवाद को अपना प्रतिस्पर्धी माने और धीरे धीरे समाजीकरण की ओर एक नई वैचारिक बहस को विस्तार देने का प्रयास करें।

मंथन कमांक 54

न्याय और व्यवस्था

व्यवस्था बहुत जटिल है। न्याय और व्यवस्था को अलग अलग करना बहुत कठिन कार्य है, किन्तु हम मोटे तौर पर इस संबंध में अपने विचार रखकर मंथन की चर्चा शुरु कर रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को एक दूसरे के साथ अपनी क्षमता और योग्यतानुसार प्रतिस्पर्धा करने की स्वतंत्रता ही न्याय माना जाता है। ऐसी स्वतंत्रता में बाधा अन्याय है। ऐसे अन्याय को दूर करने का प्रयत्न व्यवस्था मानी जाती है। व्यवस्था सामाजिक भी होती है और संवैधानिक भी। सामाजिक व्यवस्था समाज का कर्तव्य है और संवैधानिक व्यवस्था राज्य का दायित्व । इसका अर्थ है कि व्यक्ति की असीम स्वतंत्रता की सुरक्षा की गारंटी राज्य देता है, समाज नहीं। समाज इसमें व्यवस्था की सहायता कर सकता है।

कुछ सर्वस्वीकृत सिद्धांत माने जाते हैं–

1 न्याय और व्यवस्था के बीच संतुलन होना अनिवार्य है। न्याय की भूख का बढना अव्यवस्था पैदा करता है तो व्यवस्था का मजबूत होना तानाशाही का संकेतक माना जाता है।

2कर्तव्य और अधिकार एक दूसरे के पूरक होते है।

3 न्याय सिर्फ व्यक्तिगत होता है, समूहगत नहीं। व्यवस्था समूहगत होती है,व्यक्तिगत नहीं।

4 किसी व्यक्ति के अधिकार न्याय के रुप में माने जाते है तो कर्तव्य व्यवस्था के रुप में। इसका अर्थ हुआ कि न्याय तब तक नहीं मिल सकता जब तक कोई अन्य व्यवस्था न करे। किसी व्यक्ति के अधिकारों की पूर्ति के लिए किसी अन्य को कर्तव्य करना आवश्यक है।

न्याय दो प्रकार के होते हैं–1 सामाजिक 2 संवैधानिक। सामाजिक न्याय की पूर्ति समाज करता है और संवैधानिक न्याय की पूर्ति राज्य। न्याय की पूर्ति करने वाली सामाजिक और संवैधानिक सकियता को व्यवस्था कहते है। व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं– 1 त्याग प्रधान 2 संग्रह प्रधान। त्याग प्रधान व्यक्ति किसी के लिए कोई अन्याय नहीं करते बल्कि व्यवस्था में सहायक होते है। संग्रह प्रधान व्यक्ति यदि सीमा से आगे चले जायें तो वे समस्या पैदा करते हैं और ऐसे व्यक्तियों को नियंत्रित करने के लिए व्यवस्था को आगे आना पडता है। वर्तमान समय में संग्रह प्रधान व्यक्तियों की संख्या निरंतर बढ रही है। इसके कारण सम्पूर्ण भारत में व्यवस्था अव्यवस्था में बदलती जा रही है। संग्रह प्रधान व्यक्ति अधिकारों की चिंता करता है किन्तु कर्तव्य की चिंता बिल्कुल नहीं करता। ऐसा व्यक्ति हमेशा न्याय की मांग करता है किन्तु व्यवस्था की कभी कोई मदद नहीं करता। ऐसी न्याय की मांग बढने के

कारण व्यवस्था और न्याय के बीच का संतुलन खराब होता है जिसका परिणाम होता है अव्यवस्था और अव्यवस्था का परिणाम होता है अन्याय। क्योंकि न्याय बिना किसी व्यवस्था के पूरा नहीं किया जा सकता।

हम वर्तमान स्थिति की समीक्षा करें तो न्याय की मांग करने वालो की संख्या दिन प्रतिदिन बढती जा रही है। गली गली में ऐसे लोग मिल जायेंगे जो एक ओर तो टैक्स नहीं देना चाहते दूसरी ओर दिन रात सुविधाओं में विस्तार करने की मांग करते रहते हैं। कुछ निकम्मे लोग कोई काम नहीं करते सिर्फ दिन रात किसी आधार पर न्याय की मांग करते रहते है। अनेक लोगों ने तो न्याय की मांग करने का व्यवसाय ही शुरु कर दिया है। एन जी ओ अथवा किसी सामाजिक संगठन का बोर्ड लगाकर ऐसे पेशेवर लोग किसी भी मामले को अन्याय प्रमाणित करके अपनी दुकानदारी शुरु कर लेते है। सत्ता की छीनाझपटी में लगे लोग ऐसे पेशेवर न्याय दिलाने वालो के प्रभाव में आ जाते है जिसका परिणाम होता है व्यवस्था का कमजोर होना। गली गली में आपको आर्थिक न्याय और सामाजिक न्याय दिलाने वालो के बोर्ड मिल जायेंगे। ऐसे अधिकांश लोग व्यवस्था पर दबाव बनाने के लिए संगठन भी बना लेते है। राजनैतिक सत्ता की छीनाझपटी में लगे लोग और ऐसे आर्थिक सामाजिक न्याय की मांग करने वाले संगठनों के बीच तालमेल होता है जिसका परिणाम होता है कि इन दोनों का व्यवसाय फलता फूलता है और व्यवस्था कमजोर होती जाती है, जिसका अंतिम परिणाम होता है अन्याय अर्थात न्याय की मांग करने वाले पेशेवर लोगों के व्यवसाय में वृद्धि।

स्पष्ट है कि अन्याय बढ रहा है न्याय देने वाली व्यवस्था कमजोर हो रही है। जब व्यवस्था कमजोर होती है तब वह मजबूर होकर न्याय की परिभाषा को बदलना शुरु कर देती है क्योंकि व्यवस्था के अभाव में न्याय दिया ही नहीं जा सकता। इस मामले में सबसे पहली गलती हमारी राजनैतिक व्यवस्था के द्वारा की गई। व्यवस्था ने अपनी शक्ति का आकलन किये बिना सम्पूर्ण पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्थाओं को अपने अंदर समेट लिया। संवैधानिक व्यवस्था का कार्य तो तब प्रारंभ होता है जब पारिवारिक सामाजिक व्यवस्था न्याय न दे सके। किन्तु संवैधानिक व्यवस्था ने अन्य सबको बाहर करके स्वयं ही न्याय देना शुरु कर दिया। परिणाम स्वरुप न्याय की मांग बेतहाशा बढी जिसे पूरा करना व्यवस्था के लिए असंभव था। ऐसी स्थिति में ही व्यवस्था तानाशाही की ओर बढना शुरु कर देती है जिसका पहला लक्षण होता है न्याय की मांग में कटौती करना। आज यदि नरेन्द्र मोदी की तानाशाही प्रवृत्ति का भारत में पुरजोर समर्थन दिख रहा है तो उसका मुख्य कारण यही है कि 70 वर्षो तक भारत में न्याय और व्यवस्था के बीच असंतुलन बना रहा। न्याय की मांग बढती रही और व्यवस्था कमजोर होती रही।

संवैधानिक व्यवस्था में न्यायपालिका विधायिका और कार्यपालिका आपसी तालमेल से न्याय प्रदान करते है। स्वतंत्रता के बाद शक्ति संग्रह प्रवृत्ति के पंडित नेहरु आगे आये। उन्होने सबसे पहले न्यायपालिका के पंख कतरने शुरु किये और धीरे धीरे राष्ट्रपति के अधिकारों तक पहुँच गये। पंडित नेहरु में त्याग प्रवृत्ति का पूरा पूरा अभाव था। नेहरु मॉडल को साम्यवादियों का तथा साम्प्रदायिक मुसलमानों का भरपूर समर्थन मिला। इन तीनों के तालमेल के कारण देश की संवैधानिक व्यवस्था निरंतर कमजोर होती गई और इस कमजोरी का परिणाम हुआ न्याय का कमजोर होना जिसका अंतिम परिणाम हम नई परिवर्तित तानाशाही व्यवस्था के रुप में भुगत रहे है। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने लोकतांत्रिक तरीके से इस अन्याय को ठीक करने की कोशिश की किन्तु सोनिया जी के पुत्र मोह, साम्यवादियों की अव्यवस्था लोलुपता तथा न्यायपालिका की अति सक्रियता ने मनमोहन सिंह जी की लोकतांत्रिक पहल को अव्यवस्था विस्तार में बदल दिया। मजबूरी में भारत की जनता को यह तरीका अपनाना पडा।

अब हमें नई परिस्थितियों में नये तरीके से पहल करनी होगी। धीरे–धीरे साम्यवादियों से पिंड छूट रहा है। साम्प्रदायिक मुसलमान भी न्याय और व्यवस्था के संतुलन पर विचार करने को तैयार होते दिख रहे है। विपक्षी दलों में भी चिंता व्याप्त हो गई है। ऐसी परिस्थिति में समाज को भी सक्रिय होना चाहिए। जो लोग आर्थिक और सामाजिक न्याय की मांग में तो निरंतर सक्रिय हैं किन्तु इस न्याय की मांग के माध्यम से वे राजनैतिक सत्ता संग्रह का खेल खेल रहे है ऐसी न्याय की मांग करने वालो को समाज का शत्रु घोषित कर देना चाहिए। समाज ऐसे संगठनों से पूरी दूरी बना ले। न्याय की कोई भी मांग किसी भी रुप में व्यवस्था को कमजोर करने का आधार नहीं बनना चाहिए। दूसरा प्रयत्न यह होना चाहिये कि न्यायपालिका और विधायिका के बीच सर्वोच्चता का टकराव बहुत घातक है। किसी भी परिस्थिति मे उसे समन्वय मे बदलना चाहिये। हमें तीसरा प्रयत्न यह भी करना चाहिए कि अव्यवस्था को आधार बनाकर देश में तानाशाही की स्थिति न आ जाये। राज्य को वर्तमान की अपेक्षा कई गुना अधिक सशक्त होना चाहिये। साथ ही उसका सुरक्षा और न्याय के अतिरिक्त सभी मामलो मे हस्तक्षेप शून्य होना

चाहिये। यह तभी संभव है जब परिवार गांव और समाज की व्यवस्था को राजनैतिक व्यवस्था से मुक्त कराने का प्रयास किया जाये। जब न्याय और व्यवस्था का संतुलन संवैधानिक व्यवस्था के पास केन्द्रित न होकर पारिवारिक सामाजिक व्यवस्था के बाद अल्पमात्रा में ही राज्य के पास एकत्रित होगा तब अपने आप विकेन्द्रित व्यवस्था मजबूत हो जायेगी। व्यवस्था मजबूत होगी तब लोगों को अपने आप न्याय मिलने लग जायेगा। भारत में न्याय की मांग करने वाले संगठनों की दुकानदारी भी बंद हो जायेगी और राजनैतिक तानाशाही का खतरा भी टल जायेगा।

मंथन कमांक 55

गॉधी, भगतसिंह, सुभाष चंद्र बोस

कुछ सर्वस्वीकृत सिद्धांत हैं–

1 गुलामी कई प्रकार की होती है। धार्मिक राजनैतिक सामाजिक। समाधान का तरीका भी अलग अलग होता है।

2 मुस्लिम शासनकाल में भारत धार्मिक, अंग्रेजो के शासनकाल में राजनैतिक तथा स्वतंत्रता के बाद सामाजिक रुप से गुलाम माना जाता है।

3 व्यक्ति दो प्रकार के होते है– 1 त्याग प्रवृत्ति प्रधान 2 संग्रह प्रवृत्ति प्रधान। संग्रह तब तक अपराध नहीं होता जब तक किसी अन्य की स्वतंत्रता में बाधा न पैदा हो।

4 समाज व्यक्तियों का समूह होता है, व्यक्ति समूहों का समूह नहीं।

5 परिवार समाज निर्मित इकाई होती है प्राकृतिक इकाई नहीं। परिवार समाजव्यवस्था की पहली इकाई माना जाता है।

6 नीति और नीयत में बहुत अंतर होता है। ठीक नीयत गलत नीति की तुलना में गलत नीयत ठीक नीति अधिक घातक होते हैं।उ

भारत ने विदेशी मुसलमानों की भी गुलामी देखी थी और अंग्रेजो की भी। मुसलमानों की गुलामी का स्वरुप धार्मिक अधिक था, राष्ट्रीय कम । अंग्रेजो की गुलामी राष्ट्रीय अधिक थी धार्मिक कम। स्वतंत्रता संघर्ष के समय दो अलग अलग प्रयत्न हो रहे थे। एक प्रयत्न संघ की ओर से था जो किसी भी परिस्थिति में मुसलमानों की गुलामी को सदा के लिए टाल देना चाहता था। दूसरा प्रयत्न गांधी सुभाष भगत सिंह का था जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। राष्ट्रीय गुलामी की तुलना में उनकी नजर में स्वतंत्रता के बाद भी मुस्लिम गुलामी का कोई खतरा नहीं था। स्वतंत्रता संघर्ष में लगे व्यक्तियों में भी कुछ त्याग प्रधान थे तो कुछ राजनैतिक सत्ता के लिए स्वतंत्रता संघर्ष में शामिल थे। गांधी भगत सिंह सरीखे लोग त्याग प्रधान प्रवृत्ति के थे। तो नेहरु जिन्ना सुभाषचंद्र बोस सत्ता संघर्ष को जोडकर चल रहे थे। गांधी स्वतंत्रता संघर्ष को राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ साथ सामाजिक स्वतंत्रता को भी जोडकर सक्रिय थे, तो अन्य लोग राष्ट्रीय स्वतंत्रता को ही अंतिम पडाव मान रहे थे। सामाजिक स्वतंत्रता की उन्हं चिंता नहीं थी। यदि हम गांधी सुभाष और भगत सिंह की तुलनात्मक विवेचना करें तो त्याग के आकलन में सबसे उपर भगत सिंह का नाम आता है उनके बाद गांधी और अंत में सुभाषचंद्र बोस। यदि हम नीतियों के आधार पर तुलना करें तो सबसे अधिक सफल नीति गांधी की मानी जाती है उनके बाद सुभाषचंद्र बोस की और उनके बाद भगत सिंह की। भगत सिंह की तो किसी प्रकार की कोई दीर्घकालिक योजना थी ही नहीं। उन्हें तो एक भावनात्मक त्याग के रुप में देखा जा सकता है। लेकिन गांधी के पास एक सुनियोजित योजना थी । यदि हम स्वतंत्रता संघर्ष के परिणामों का आकलन करें तो गांधी की भूमिका ही एकमात्र सफल हो सकी। यह कहना बिल्कुल गलत है कि स्वतंत्रता संघर्ष की सफलता में कांतिकारियों की भूमिका का भी कोई सहयोग रहा। गांधी को भारत में स्वतंत्रता संघर्ष प्रारंभ करने के पहले दक्षिण अफ्रीका का भी पूरा पूरा अनुभव था। उन्होने स्वतंत्रता संघर्ष की ट्रेनिंग दक्षिण अफ्रीका से ही ले ली थी। वहॉ भी उन्हें अंग्रेजो से ही मुकाबला था और अहिंसा ही उनका आधार था । वहॉ की ट्रेनिंग के बाद ही गांधी अपनी नीतियों की सफलता के प्रति पूरी तरह आश्वस्त थे। जबकि सुभाषचंद्र बोस की ट्रेनिंग दूसरे प्रकार के समूह के साथ हो रही थी। भगत सिंह को तो ऐसी कोई विशेष ट्रेनिंग हुई ही नहीं थी। इसलिए यह स्पष्ट है कि यदि गांधी अपनी नीतियों से हटकर भगत सिंह या सुभाषचंद्र बोस के साथ संघर्ष में शामिल भी हो गये होते तो सफलता में कोई बहुत बडा फर्क नहीं आने वाला था। गांधी भी एक दो बम फेककर फांसी चढ गये होते लेकिन यदि भगत सिंह और सुभाषचंद्र बोस अलग लाईन पर न चलकर गांधी की लाईन पर चले होते तो स्वतंत्रता और जल्दी मिल जाती। भारत का विभाजन भी रुक सकता था और यह भी संभव है कि स्वतंत्रता के बाद नेहरु सरीखे व्यक्ति को नेता बनाने की

जरुरत नहीं पडती । मैं स्पष्ट हूँ कि स्वतंत्रता संघर्ष में गांधी और सुभाष के बीच किसी प्रकार की कोई तुलना करना उचित नहीं है।

यदि हम हिंसा और अहिंसा की बात करें तो यह भी परिस्थिति अनुसार ही आकलन किया जा सकता है। यदि भारत साम्यवादी देशों का गुलाम होता तब गांधी की अहिंसक नीति का सफल होना संदिग्ध था किन्तु भारत अंग्रेजो का गुलाम था इसलिए अहिंसक नीति की सफलता की गुंजाइश थी । साथ ही विश्वयुद्ध ने अंग्रेजों को इतना कमजोर भी कर दिया था कि वे धीरे धीरे अन्य देशों को भी स्वतंत्र करते जा रहे थे। इस प्रकार की परिस्थितियों में स्वतंत्रता के लिए हिंसा का मार्ग उचित नहीं था। गांधी और सुभाष में एक बहुत बडा अंतर यह भी था कि गांधी अकेन्द्रित सत्ता के पक्षधर थे तो सुभाष केन्द्रित सत्ता के । सुभाष ने तो यहॉ तक घोषणा की थी कि स्वतंत्रता के बाद भी भारत में कुछ वर्षो के लिए तानाशाही आवश्यक है। गांधी और सुभाष के बीच में नेहरु पटेल अम्बेडकर विकेन्द्रित सत्ता के पक्षधर थे। इनमें भी नेहरु का झुकाव आंशिक रुप से पटेल की अपेक्षा लोकतंत्र की दिशा मे अधिक था । लोकतंत्र की दिशा में नेहरु बालिग मताधिकार के पक्षधर थे तो पटेल सीमित मताधिकार के। यद्यपि दोनों ही गांधी के ग्राम स्वराज्य के पक्षधर नहीं थे, क्योकि नेहरु वामपंथी विचारधारा से अधिक प्रभावित थे तो पटेल दक्षिणपंथी विचारधारा से और दोनों ही विचारधाराओं में सत्ता का केन्द्रियकरण मुख्य आधार माना जाता है। स्पष्ट है कि गांधी सुभाष और भगत सिंह के अभाव में हमारे देश के राजनेताओं को तीनों से हटकर अपनी नीतियॉ लागू करने का अवसर मिल गया। यदि हम स्वतंत्रता संघर्ष में भगत सिंह के त्याग का आकलन करें तो उनका त्याग गांधी और सुभाष से कई गुना अधिक सम्मान योग्य था फिर भी यदि हम स्वतंत्रता संघर्ष में झंडा फहराने के नाम पर गोली खाकर गिरते हुये जवानों को देखकर भी जिन व्यक्तियों ने झंडा उठाने की हिम्मत की उनका त्याग भगत सिंह की तुलना में अधिक सम्मान योग्य माना जाना चाहिए।

अब भारत स्वतंत्र है। जब भारत गुलाम था तब गुलामी से मुक्ति के लिए हिंसा या अहिंसा के दोनों मार्ग आजमाये जा सकते है किन्तु लोकतांत्रिक भारत में किसी भी रुप में भगत सिंह या सुभाषचंद्र बोस के मार्ग पर नहीं चला जा सकता। स्वतंत्रता के बाद सम्मान की दृष्टि से भगत सिंह और सुभाषचंद्र बोस को गांधी के समकक्ष भी माना जा सकता है किन्तु अनुकरण की दृष्टि से स्वतंत्रता के बाद उन दोनों के मार्ग को शून्य मान लेना चाहिए। मुझे आश्चर्य होता है कि आज भी देश में ऐसी हिंसक प्रवृत्ति के लोगों का अस्तित्व है जो भगत सिंह और सुभाष बाबु के नाम पर हिंसा का समर्थन करते है। यदि भगत सिंह या सुभाष बाबु जीवित होते तो स्वतंत्रता के बाद ऐसी किसी भी हिंसा का पुरजोर विरोध करते। इसी तरह स्वतंत्रता के पूर्व गांधी के धरना प्रदर्शन या आंदोलन के मार्ग का औचित्य था किन्तु स्वतंत्रता के बाद उस मार्ग का भी कोई औचित्य नहीं है। फिर भी वोट के भिखारी सत्ता के खिलाडी राजनेता स्वतंत्रता के बाद भी धरना प्रदर्शन का प्रयोग करने में गांधी के नाम का उपयोग करते है। मेरे विचार से स्वतंत्रता के बाद भारतीय राजनीति पूरी तरह सत्ता संघर्ष का केन्द्र बन गई है जिसे न गांधी की नीतियों से कोई लेना देना है न ही भगत सिंह और सुभाष बाबू के त्याग से । इन सबका तो एक ही उददेश्य है कि भारत राजनैतिक रुप से स्वतंत्र हो गया है और अब उसे सामाजिक रुप से गुलाम बनाकर रखने की आवश्यकता है। मेरे विचार में राजनेताओं की इस गुलाम बनाने वाली प्रवृत्ति से छूटकारा पाने के लिए भगत सिंह या सुभाष की तो कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु एक नये गांधी की आवश्यकता है जो गांधी के पदचिन्हों पर न चलकर वर्तमान स्थितियों का आकलन करते हुये सत्य और अहिंसा के नेतृत्व में सामाजिक स्वतंत्रता का मार्ग तलाश करे।
मंथन का अगला विषय'' उत्तराधिकार का औचित्य और तरीका'' होगा।

मंथन की वार्षिक प्रगति की समीक्षा

आज 1 अक्टूबर मंथन की वार्षिक समीक्षा का दिन है। 1 अक्टूबर 2016 से मंथन कार्यक्रम शुरु हुआ था आज एक वर्ष बाद हम उसकी समीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं।

मंथन कार्यक्रम पूरी दुनिया का अकेला ऐसा योजनाबद्ध सुनियोजित प्रयास है जो किसी भी विचारधारा के प्रचार प्रसार से पूरी तरह अलग है। यह योजना व्यक्ति को तटस्थ नहीं बल्कि निष्पक्ष बनने की दिशा में प्रेरित करती है। इसमें शामिल विचार ढुलमुल नहीं बल्कि बिल्कुल स्पष्ट होते है। इस कार्यक्रम में कोई योजना नहीं बनती। सक्रियता का कोई समावेश नहीं है। कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। किसी परिणाम की प्रतीक्षा नहीं होती

बल्कि मंथन कार्यक्रम तो एकमात्र बौद्धिक व्यायाम तक सीमित है। जिस तरह बाबा राम देव शारीरिक स्वास्थ के लिए प्राणायाम और व्यायाम कराते हैं उसी तरह मंथन कार्यक्रम मानसिक स्वास्थ के लिए मानसिक व्यायाम कराता है। इसमें शामिल व्यक्ति भावनाओं की अपेक्षा बौद्धिक दिशा में बढने लगता है। इसमें शामिल व्यक्ति आसानी से ठगा नहीं जाता इस बात की निश्चित गारंटी है। जिस तरह व्यक्ति दिनभर काम करने के बाद भी दूसरे दिन कुछ देर के लिए व्यायाम के उददेश्य से टहलता है उसी तरह अपने सब काम करते हुये मंथन के लिए भी थोडा सा समय निकालना पडता है।

मंथन की एक निश्चित प्रकिया है। मैंने स्वयं 62 वर्षो तक व्यक्तिगत रुप से यह बौद्धिक व्यायाम किया है और उसके विलक्षण परिणाम भी प्राप्त हुये है। अब एक वर्ष से इस मंथन योजना को विश्वस्तर तक पहुॅचाने की दिशा में सकियता है। इस कार्यक्रम में सम्मिलित टीम ने मुझे 300 विषय चुनकर दिये जो पिछले वर्ष 1 अक्टुबर को फेसबुक में घोषित भी हो चुके है। इन्हीं विषयों में से एक विषय पर प्रत्येक शनिवार को मैं स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करता हूॅ। यदि कोई साथी उस विषय पर कोई लेख लिखता है तो वह भी साथ साथ उसके नाम से शनिवार को ही फेसबुक में डालने की व्यवस्था है यद्यपि इस एक वर्ष में किसी ने कुछ प्रारंभिक लेख नहीं लिखा और मैं ही प्रारंभिक लेख लिखता रहा हूॅ। यह शनिवार का लेख फेसबुक, वाटसअप, और काशइंडिया डॉट कॉम वेबसाइट में तत्काल डाल दिया जाता है। उक्त लेख के चौदह छोटे– छोटे महत्वपूर्ण अंश बनाकर सात दिनों में एक एक अंश विस्तृत चर्चा के लिए मैं अपने फेसबुक पर डालता हूॅ तथा सात अंश मेरा लडका चर्चा के लिए अपने फेसबुक पर डालता है। अलग अलग आने वाले विचार या प्रश्न निरंतर सात दिनों तक चलते रहते है। लाइक और शेयर भी आते रहते है और इस तरह एक माह में चार विषय पूरे हो जाते है। ये चारों विषय फिर से ज्ञानतत्व पाक्षिक में विचारार्थ तथा प्रश्नोत्तर के लिए पूरे देश में भेजे जाते है। ज्ञानतत्व के माध्यम से भी मंथन प्रकिया निरंतर चलती रहती है। इसके बाद प्रत्येक माह की एक तारीख के आसपास रविवार को दिल्ली में कौशाम्बी मेट्रो स्टेशन के निकट हॉल में पूरे मंथन समूह की व्यवस्था के अंतर्गत एक खुली विचार गोष्ठी होती है। यह विचार गोष्ठी करीब छः घंटे चलती है वही सबका भोजन, नास्ता और यदि रात को कोई रुके तो निवास की भी व्यवस्था होती है। इस गोष्ठी में चारों विषयों पर प्रत्यक्ष प्रश्नोत्तर तथा विचार होता है। साथ ही एक माह की मंथन प्रकिया तथा भविष्य की कार्यप्रणाली पर भी विचार होता है। यदि विषयों में फेरबदल करना हो तो इसी खुली बैठक में होता है। यह खुली बैठक ही मेरा मार्ग दर्शन करती है। यह खुली बैठक आज 1 अक्टूबर को दिल्ली में चल भी रही है।

हम एक वर्ष के परिणाम की समीक्षा करें। आमतौर पर देखा जाता है कि किसी गंभीर विषय पर यदि कोई लीक से हटकर बात कही जाये तो सामान्यतया एक पक्ष उसको ट्रोल करता है। मैंने देखा कि मैंने हर विषय पर कोई न कोई ऐसी बात जरुर लिखी जो भावना प्रधान लोगों की भावनाओं पर चोट करती थी किन्तु किसी ने मुझे ट्रोल नहीं किया। प्रारंभ में विजयभाई और असली आजादी नाम के मित्रों ने मामूली सी कोशिश भी की किन्तु अन्य गंभीर लोगों ने अपने आप उन्हें आभास करा दिया कि मंथन कार्यक्रम कोई विचार प्रचार नहीं है न ही इतना उथला है कि वे उसकी गहराई को छू सकें, परिणामस्वरुप वे ठीक दिशा में चलने लगे। यह भी संभव है कि या तो बहुत लोग इस लेखन को ज्यादा महत्व नहीं देते होंगे अथवा वे स्वयं को इतना तार्किक नहीं मानते होंगे कि इस विवाद में पडें। कारण चाहे जो भी हो किन्तु एक वर्ष से मंथन कार्यक्रम निरंतर तेज गति से आगे बढता रहा। निश्चित दिन और समय पर पूर्व निश्चित विषय पर लिखने के कारण एक वर्ष में बावन मंथन कार्यक्रम तक पहुॅचा जा सका। एक भी विषय रिपीट नहीं हुआ है। प्रति सप्ताह नया विषय आता है वह भी बिल्कुल भिन्न अर्थात यदि एक विषय सामाजिक है तो दूसरा विषय आर्थिक तीसरा विषय राजनैतिक तो चौथा विषय वैचारिक होता है। आज एक वर्ष पूरा होने के बाद मैं यह कहने की स्थिति में हूॅ कि मंथन कार्यक्रम उम्मीद और कल्पना से भी कई गुना अधिक सफल रहा है। धीरे धीरे गंभीर लोगों की टीम अपने आप जुड रही है। यह टीम संबंधों के आधार पर नहीं बल्कि विचारों के आधार पर बन रही है। विचार प्रचार करने वाले समूह के समक्ष एक वैचारिक संकट खडा होता दिखने लगा है। मैं और हमारी टीम के सदस्य इस कार्यक्रम के परिणामों से बहुत संतुष्ट हैं।

आज से हम नये वर्ष में प्रवेश कर रहे है। आप मित्रों का कोई सुझाव हो तो आप फेसबुक, वाट्सअप , बेबसाइट अथवा मासिक बैठक में रख सकते है। आपसे मेरी अपेक्षा रहेगी कि आप इस कार्यक्रम से दुनिया की सभी समस्याओं के समाधान की उम्मीद न करें किन्तु इस कार्यक्रम के द्वारा व्यक्ति की वैचारिक क्षमता का

विकास अवश्य होगा। इतनी मात्र सफलता की उम्मीद करें। मैं चाहता हूँ कि आप अपने अन्य साथियों को भी हमारी नीति नीयत और योजना के साथ जुडने में मदद करने की कृपा करें। यह जुडाव आप को स्वयं को, हमारे प्रयास को तथा समाज को वैचारिक आधार पर मजबूत करने में मदद करेगा।

वर्तमान भारत की राजनैतिक समीक्षा

पिछले तीन वर्षो से भारत की राजनीति लगभग ठीक दिशा में बढ़ रही है। साम्यवाद का सफाया हो गया है। साम्यवादी विचारधारा भी धीरे धीरे कमजोर हो रही है। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भी मजबूत चुनौती मिल रही है। परिवारवादी राजनीति का अस्तित्व समाप्त हो रहा है। तिकडम करने वाले नेता असफल हो रहे है। भ्रष्टाचार पर अंकुश लगा है। नोटबंदी और जी एस टी ने कालेधन को भी चिंता में डाल दिया है। मोदी असफल होंगे इसकी प्रतीक्षा कर रहे शत्रुघन सिन्हा,यशवंत सिन्हा, अरुण शौरी, सुब्रम्णयम स्वामी सरीखे लोगों का भी धैर्य टूट रहा है। साम्प्रदायिक हिन्दुत्व भी चौराहें पर खडा है। निर्णय नहीं कर पा रहा कि किधर बढे। लगता है कि राजनीति की दिशा तेजी से ठीक हो रही है।

फिर भी अभी सतर्क रहने की आवश्यकता है। सारे पराजित लोग एकजुट हो रहे है। मृतप्राय साम्यवादी तो हैं ही किन्तु साम्प्रदायिक मुसलमान भी फिर से हिम्मत करने की सोच रहे हैं। ममता बनर्जी और अरविंद केजरीवाल अभी भी आशान्वित है। किन्तु निकट भविष्य में कोई बडा खतरा नहीं दिखता। लगता है कि भविष्य में साफ सुथरी राजनीति मजबूत होगी। नरेन्द्र मोदी और नीतिश कुमार का एकसाथ होना बहुत अच्छी दिशा है। राहुल गांधी भी एक साफ सुथरी राजनैतिक सोच के व्यक्ति हैं । उन्हें कुटनीति का ज्ञान न के बराबर है। राजनैतिक सुझबुझ भी नहीं दिखती किन्तु नीयत के मामले में राहुल गांधी ने बहुत उत्कृष्ट प्रदर्शन किया है। राहुल गांधी पूरी तरह इंदिरा या नेहरु की लाईन से अलग दिख रहे है। यदि उनमें थोडी सी राजनैतिक सूझबूझ और हो जाये तो वे विपक्ष की भूमिका अच्छी तरह निभा सकते है। भविष्य में क्या होगा यह पता नहीं है लेकिन राजनैतिक व्यवस्था में एक दूरगामी बदलाव दिख रहा है। अब राजनीति को व्यवसाय समझने वालो की दुकानदारी संकट में आ रही है। मोदी रहे या न रहे किन्तु अब तीन वर्ष पूर्व की राजनीति की ओर लौटने की कोई संभावना नहीं दिखती। तिकडम बाजी की राजनीति को या तो अपने को बदलना होगा या समाप्त होना होगा।

केन्द्र और राज्य चुनाव एक साथ होना चाहिए

केन्द्र और राज्य चुनाव एकसाथ होना चाहिए। मैं लम्बे समय से इस बात कर पक्षधर रहा हूँ कि चुनाव पर एक सीमा से ज्यादा खर्च नहीं होना चाहिए लेकिन राजनैतिक व्यवस्था चुनाव प्रकिया को इतना जटिल बना देती है कि चुनाव में बहुत अधिक खर्च हो जाता है। कालेधन का उपयोग होने के कारण आम जनता भी समझती है कि चुनाव के समय नेता उसे पैसा देता है और सत्ता सुविधा देती है इसलिए चुनाव बार बार होना मतदाता को अच्छा लगता है किन्तु इसके दूरगामी परिणाम बहुत बुरे होते है। मेरे विचार से तो केन्द्र राज्य के चुनाव एकसाथ होने चाहिए । यदि स्थानीय स्तर के चुनाव भी उसी के साथ हो जाये तो अधिक अच्छा होगा।

मेरा तो चुनाव में सुधार के लिए एक और सुझाव है कि लोकसभा का गठन राज्य सभा के समान हो अर्थात 108 सीटो का चुनाव प्रतिवर्ष हो तो खर्च भी बहुत बचेगा और सरकारों की लोकप्रियता भी प्रतिवर्ष पता हो जायेगी। इससे बार बार प्रधानमंत्री चुनने का भी झंझट नहीं रहेगा। लोकसभा कभी भंग नहीं होगी। राज्य सभा पांच वर्ष के बाद भंग होगी और उसके नये चुनाव हो सकते है। इस विचार पर भी सोचा जाना चाहिए।

अमित शाह के पुत्र का मामला तिल का ताड़

एक बेरोजगार व्यक्ति 2013–14 में छोटा सा काम करता है और कुछ हजार का नुकसान कर देता है। 15–16 में किसी प्रभावशाली व्यक्ति की जमानत पर बिना कोई जमानत दिये 15 करोड का कर्ज मिलता है । इस कर्ज के आधार पर वह व्यक्ति एक वर्ष तक व्यापार करता है। अपनी कुल बिक्री एक लाख से बढाकर 80 करोड तक ले जाता है । इस बिक्री में उसे एकाध करोड का घाटा हो जाता है। धन देने वाला ब्याज समेत पैसा ले लेता है। उसका काम एक वर्ष में ही बंद हो जाता है। मैं तो कही नहीं समझ सका कि इस पूरे कार्य में अनैतिकता क्या है? अब पता चलता है कि वह व्यक्ति अमित शाह का पुत्र है और इस पिता पुत्र के संबंध को आधार बनाकर कुछ विपक्षी लोग उस व्यक्ति के व्यापार में अनैतिकता की गंध खोजने लगते है। मैंने बहुत खोजा मुझे तो कोई गंध नहीं आई।

मुझे तो आश्चर्य हुआ जब राष्ट्रीय स्तर के दैनिक और छ0ग0 म0प्र0 में विशेष रुप से अति प्रतिष्ठित समाचार पत्र नवभारत दिनांक 9 अक्टूबर में मुख्य रुप से इस समाचार को इस रुप में छापा गया।

कांग्रेस उपाध्यक्ष राहुल गांधी ने नोटबंदी को लेकर आज भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष अमित शाह पर निशाना साधा और कहा है कि आखिर में नोटबंदी का एक ही शख्स को फायदा हुआ। इससे न तो आर बी आई और न ही किसान या आम जन को कोई लाभ मिला इससे केवल अमित शाह के पुत्र जय अमित भाई लाभ में रहे। श्री गांधी ने अपने ट्वीट के समर्थन में उस वेबसाइट का लिंक भी पोस्ट किया है जिसमें जय अमित का करोबार पिछले दो तीन साल में खूब फलने फूलने के बारे में लेख लिखा गया है। वेबसाइट में पोस्ट किए गए लेख में दावा किया गया है कि 2013 और 2014 को समाप्त वित वर्ष में जय अमित की कंपनी टेंपल इंटरप्राईज प्राईवेट लिमिटेड के बैलेंस शीट के अनुसार इन दोंनो वर्ष कंपनी भारी नुकसान में रही थी। उसे कमशः 6230 करोड और 1724 करोड रुपये का घाटा हुआ था लेकिन वित वर्ष 2014–15 के दौरान कंपनी को 18728 करोड रुपया का मुनाफा हुआ और फिर 2015:16 में कंपनी का कुल करोबार 80.5 करोड रुपये का हो गया। कंपनी को इस दौरान 15.78 करोड रुपये का बिना गारंटी वाला रिण भी मिला था। इस पैसे का इंतजाम राज्य सभा के एक सांसद की ओर से किया गया बताया जाता है। कांग्रेस के एक अन्य नेता राजीव गौडा ने भी ट्वीट कर कहा– जय को विकास मिल गया बाकी भारत मोदी जी के गुजरात मॉडल वाले अच्छे दिन का इंतजार कर रहा है।

मैं दोनों समाचारों को सुनकर पढकर यह नही समझ पाया कि मेरी जानकारी सही है या समाचार पत्र का समाचार। यदि समाचार पत्र का समाचार गलत है तो यह बात जरुर खोजी जानी चाहिए कि इस गलत सामाचार को जानबूझ कर तोडा मरोडा गया है या कुछ भूल हुई है। मैं तो अभी तक समझ ही नहीं पाया कि उस व्यक्ति की बैलेस सिट में कहा से 62 करोड या 18 हजार करोड का विवरण शामिल हो गया। जबकि उसी खबर के अनुसार सच्चाई यह है कि उस व्यक्ति की कुल खरीद बिक्री अधिकतम 80 करोड है। मुझे यह भी समझ में नहीं आया कि उस अखबार में बडे अक्षरों में लिखा गया ''नोटबंदी से अमित शाह के पुत्र हुए मालमाल''। जबकि वास्तविक नतीजा यह आया है कि अमित शाह का पुत्र एक वर्ष व्यापार में एक दो करोड रुपया घाटे में चला गया है। मैं चाहता हूँ कि सच्चाई मेरे भी सामने आवे और समाज के सामने भी आवे इसलिए मैंने यह लेख लिखा है।

विपक्ष यदि किसी के विरुद्ध कोई झूठ फैलाता है तो सच्चाई सामने लाना हमारा काम नहीं है। यदि विपक्षी मीडिया भी असत्य प्रचार में शामिल हो जाता है तो सच्चाई सामने लाना हमारा काम नहीं। क्योंकि पेशेवर लोग अपनी व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा में कई तरह की झूठ बोलते ही रहते है किन्तु नवभारत सरीखा समाचार पत्र ऐसे पक्ष विपक्ष में शामिल नहीं रहता। इसलिए यह बात स्पष्ट करनी पडी। वैसे भी अमित शाह के पुत्र को बिना किसी साधारण सी गलती के अमित शाह पर आरोप लगाने के नाम पर जितना बडा झूठ फैलाया गया उसके कारण यह सच्चाई जानने का लेख लिखा गया है।

प्रश्नोत्तर

1 नवीन कुमार शर्मा

प्रश्न–मुनि जी। आपके विषय में सुना जाता है कि आप अपने रामानुजगंज शहर में मुसलमानों का बहुत पक्ष लेते रहे है। यहॉ तक कि संघ परिवार का भी आपने बहुत विरोध किया । आज आप जो लिख रहे है वह बिल्कुल विपरीत है। आपकी मुसलमानों के विषय में धारणा कब से बदली और क्यों बदली?

उत्तरः–यह सच है कि रामानुजगंज में मुसलमानों का मुझे और मेरा मुसलमानों को पूरा समर्थन रहा है और आज भी है। किन्तु मेरे विचार बिल्कुल बदले नहीं है जैसे पहले थे, वैसे ही हैं। मैंने 30–40 वर्ष पूर्व अपनी पुस्तक में चार लाइने लिखी थी–

धार्मिक आधार पर चार सम्प्रदाय होते हैं।

1 जो मान्यता में कट्टरवादी हैं तथा आचरण में भी कट्टरवादी हैं। (दूसरों के मूल अधिकारों का हनन करते हैं।)

2 जो मान्यता में शांतिप्रिय हैं और आचरण में कट्टरवादी।

3 जो मान्यता में कट्टरवादी हैं परन्तु आचरण में शांतिप्रिय।

4 जो मान्यता तथा आचरण दोनों में शान्तिप्रिय हैं। कट्टरवादी मुसलमान पहली श्रेणी में, कट्टरवादी हिन्दू दूसरी श्रेणी में, शांतिप्रिय मुसलमान तीसरी श्रेणी में और शांतिप्रिय हिन्दू चौथी श्रेणी में आते हैं। हमें पहली श्रेणी को

तत्काल नष्ट कर देना चाहिये तथा दूसरी को भी नियंत्रित करने का प्रयास करना चाहिये तीसरी श्रेणी का हृदय परिवर्तन और चौथी श्रेणी का अनुकरण उपयुक्त मार्ग है।

मैं अपने पूर्व लिखित निष्कर्ष पर आज भी कायम हूँ । मेरा बचपन से अनुभव रहा कि मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक भावना प्रधान होता है तथा बुद्धिजीवियों के पीछे चलता है। मैंने अपने शहर में एक प्रयोग किया कि यदि मुसलमानों में संगठन की अपेक्षा धार्मिक सोच को विकसित किया जाये तो वे बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते है। मैंने मुसलमानों को कट्टवादी शिक्षा की तुलना में सामाजिक वातावरण और व्यक्तिगत मामलों में सुरक्षा का विश्वास दिलाया। साथ ही मैंने कटटर हिन्दुत्व पर भी पूरा अंकुश लगाने का प्रयास किया। कुछ ही वर्षो में मैंने देखा कि रामानुजगंज में साम्प्रदायिकता लगभग शून्य हो गई। मुसलमानों में भी धार्मिक कटटरता समाप्त हुई। हिन्दु और मुसलमानों में सहजीवन बढा। रामानुजगंज से बाहर के साम्प्रदायिक मुसलमानों तथा हिन्दुओं ने इस एकता को तोडने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु नहीं तोड सके। आप आज भी देख सकते है कि रामानुजगंज या आसपास के मुसलमानों और हिन्दुओं में साम्प्रदायिक टकराव का खतरा लगभग न के बराबर है। आज भी वहॉ के मुसलमानों से मुझे भरपूर समर्थन और विश्वास मिलता है, हिन्दुओं का तो है ही।

फिर भी यह प्रयोग आगे नहीं बढ सका क्योंकि राजनैतिक विचारधारा इस प्रयोग को बाधक मान रही थी। कांग्रेस पार्टी साम्प्रदायिक इस्लाम को वोट बैंक बनाकर उसका भरपूर उपयोग करती रही। तो संघ परिवार साम्प्रदायिक हिन्दुत्व को आगे बढाकर अपनी सत्ता को मजबूत करने का प्रयास करता रहा। इस राष्ट्रीय प्रयत्न के समक्ष मेरा प्रयोग आगे नहीं बढ सका। मैं स्पष्ट कर दूँ कि मैंने जो भी लिखा है वह किसी भी रुप में मेरा बदला हुआ विचार नहीं है बल्कि 65 वर्षो का प्रयोग किया हुआ निष्कर्ष है।

उत्तरः—आज कल पूरी दुनिया में रोहिंग्या मुसलमानों की बहुत चर्चा हो रही है। ये चर्चा भारत में भी विशेष रुप से जारी है क्योंकि भारतीय मुसलमान इन शरणार्थी मुसलमानों के पक्ष में निरंतर आवाज उठा रहे हैं जबकि भारत सरकार और हिन्दू बहुमत उन्हें भारत से निकालना चाहता है। प्रश्न यह नहीं है कि ये रोहिंग्या मुसलमान पीडित है या बदमाश। प्रश्न यह है कि उन्हें भारत में रखना भारत सरकार का स्वैच्छिक कर्तव्य है अथवा दायित्व। मेरे विचार से यह भारत का दायित्व नहीं है और कर्तव्य करने के लिए कोई मांग नहीं की जा सकती।

भारत के मुसलमानों को विशेष रुप से यह आवाज उठाने का कोई अधिकार नहीं है क्योकि आज तक भारतीय मुसलमानों ने यह घोषित ही नहीं किया कि वे भारत में व्यक्ति के रुप में है अथवा समूह के रुप में। उन्हें भारत में समान अधिकार चाहिए या विशेष अधिकार। यह नहीं हो सकता कि वे समय समय पर अलग अलग मांग करें। इसलिए उन्हें सबसे पहले स्वयं को स्पष्ट करना चाहिए। वे भारत के नागरिक है तो उन्हें किसी विदेशी मुसलमान से सहानुभूति क्यों है। मेरे विचार से तो जो मुसलमान भारत में रहते हुए विदेशी मुसलमानों के पक्ष में आवाज उठाता है उसकी विश्वसनीयता भी संदिग्ध मानी जानी चाहिए। भारत में एक साफ साफ आवाज उठनी चाहिए कि भारतीय मुसलमान इस मामले में आवाज उठाकर समाज के बीच एक गलत संदेश दे रहे हैं। जब सारी दुनिया में मुसलमान संदेह के घेरे में है और भारत में भी यह स्थिति निरंतर मजबूत होते जा रही है तब मुसलमानों को इस मामले में चुप रहना चाहिए था। मैं देखता हूँ कि बार बार टी बी या फेसबुक में बैठकर कई मुस्लिम नेता यह व्यक्त करते है कि उन्हें भारत में संदेह की नजर से देखा जा रहा है। मुझे लगता है कि यह बात सच भी है और इसमें गलत क्या है। जब मुसलमान अपने को अन्य लोगों के समान न मानकर विशेष मानता है तो अन्य लोगों का उनकी विश्वसनीयता पर संदेह होना किसी तरह भी गलत नहीं । यह अलग बात है कि कोई इस सच्चाई को सामने आकर बोल नहीं रहा और मैं सच्चाई को स्पष्ट कर दे रहा हूँ। रोहिंग्या मुसलमानों को भारत से निकालना है या नहीं यह तो भारत सरकार तय करेगी किन्तु मुसलमान होने के नाते जो भारतीय मुसलमान उनके पक्ष में आवाज उठा रहे है उनके विषय में अवश्य गंभीरता से सोचा जाना चाहिए।

2 शिवदत्त बाघा,बांदा, उ0प्र0

प्रश्नः—फूट डालो राज करो की तोहमत अंग्रेज शासको पर लगती रही है। आजादी के बाद हम हिन्दुस्तानी इस मामले में अंग्रेजो के बाप निकले। हमने पूरे मनोयोग से फूट डालो राज करो की खेती ही संभाल रखी है। हमने अपने संविधान तक को फूट डालो राज करो का साक्षी बना दिया है। अगड़े पिछड़े दलित का राजनीतिक खेल न

खेलते तो आज कोई बामन ठाकुर तेली तमोली अहीर चमार डोम न होता। बल्कि ये सब हिन्दू होते और पंथराम वर्मा जी को ऐसी कोई शिकायत न होती। अब हम ऐसी शिकायत करने वाले पंथराम से ही जानना चाहेंगे कि वर्मा शर्मा जैसे उपनाम लिखने की जरुरत है क्या? पहचान के लिए सिर्फ पंथराम काफी नही है क्या? कहने की जरुरत नहीं है कि जातीय विभाजन को लम्बे समय तक सीचते रहे है। सो इनसे उपजे उपनामों को लिखने का या खास पहचान बनाने का मोह नहीं त्याग पा रहे। दरअसल हम जो भी लिखते है बोलते है खुद को बचाकर सब कुछ दूसरों को समझाने व उस पर अमल करने की आशा में लिखते है स्वयं उस पर अमल नहीं करना चाहते यही इस दुनिया की सबसे मुश्किल बात है।

मुनिजी ने गृहयुद्ध की आने वाले समय में भविष्यवाणी की हुई है । एक प्रखर चिंतक के रुप में उनकी पहचान बनी है अब तक। वैसे उनका दावा है कि उन्होने इसके पूर्व नीतिश कुमार जी मोदी जी व राहुल जी के विषय में भी भविष्यवाणी की थी जो सच सावित हो रही है। कुछ भी हो मुनि जी चिंतक है या भविष्य वक्ता है यह निर्णय करना मेरे लिए बेहद कठिन है फिर भी जो भविष्यवाणी उन्होने की है वह भविष्यवाणी सबकी चिंता बनने वाली जरुर है । जबकि इसका भी कारण वही है जिसकी स्वदेशी राजनेता खेती करते है फूट डालो और राज करो। वोट और सत्ता इतनी मोहनी रुप लेकर स्वदेशी राज नेताओं के सामने प्रकट हुयी कि देश व समाजहित को खारिज ही कर दिया गया। आजादी की पूर्व संध्या पर महामहिम राष्ट्रपति भी रामनाथ कोविंद तथा प्रसिद्ध लेखिका सत्या सरन जी जिस अपने पन की बात कहीं सचमुच उसे उन्होंने जिया है। भारतीय समाज में कभी उसकी गहरी अनुभूति पायी है जो आज हमारी सत्ता की चाहत में कहीं लोप हो रही है फूट डालों और राज करो की नीति का शिकार हो रही है। हमने आदमी को आदमी के रुप में पहचानने का माददा ही खो दिया है। जाति, सम्प्रदाय, सीमाओं के टैग के साथ ही आदमी की पहचान को जोडने के आदी हो चुके है। कहने की जरुरत नहीं कि देश के खून रंजित बटवारे के बाद भी हम शेष बचे लोगों को हिन्दूस्तानी खोल में समेटने की बजाय देशद्रोही सत्ता मोही तथाकथित स्वदेशी नेताओं ने बहुसंख्यक, अल्पसंख्यक की पहचान देकर अपनी सत्ता को चिरजीवी बनाने का प्रयास किया। पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह जी ने दो कदम इस फूट डालो पॉलिसी से आगे बढकर यहॉ तक कह दिया कि इस देश के संसाधनों में पहला हक मुसलमानों का है। फिर भी दस वर्षो तक लगातार उपराष्ट्रपति के पद पर विराजने वाले हामिद अंसारी के अंदर का मैल नहीं साफ हुआ। पूँछ टेढी की टेढी निकली क्यों? क्योंकि हम हिन्दूस्तानी सत्ता के लिए बहुसंख्यक अल्पसंख्यक में बांटे गये है और यह मैल कभी धुलेगा भी नहीं। जे एन यू का कन्हैया भारत तेरे टुकडे होंगे,केवल जबान से बकता है और हमारे राजनेता ऐसा प्रेक्टली कर के दिखा रहे है सो मुनि जी की भविष्यवाणी को खारिज करना बडा मुश्किल है। एक बात और आप सब मिलकर कितनी भी कोशिश करों यदि सत्ता संचालन वाली मशीनरी यानी सिस्टम ब्रिटिश काल का ही है मतलब सत्ता संचालन का दारोमदार आई एस आई पी एस कैडर पर ही निर्भर है तो लोकतंत्र कभी भी अपेक्षित परिणाम नहीं दे सकता। दूसरी बात यह कि जिनती गम्भीरता से हम सेक्स व सेक्स से जुडी घटनाओं को लेते है उतनी भ्रष्टाचार से जुडी घटनाओं को नहीं लेते जबकि अनचाहा सेक्स भ्रष्टाचार का ही रुप है। भ्रष्टाचार पर लगाम लगे तो सेक्स की घटनाएँ स्वयमेव थम जायेगी।

उत्तरः– फूट डालो और राज करो की नीति का दुरुपयोग राज्य अधिक कर रहा है, समाज कम। यदि राज्य ही धर्म जाति लिंग भाषा के आधार पर भेद भाव न करे तो संभवतः नाम के आगे वर्मा लिखने का लोभ कम हो सकता है। मैं कोई भविष्यवक्ता नहीं हूँ बल्कि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए भविष्य का आकलन करके लिख देता हूँ । आकलन निष्पक्ष भाव से होता है इसलिए सही निकल जाता है जो आवश्यक नहीं है। स्वतंत्र भारत के 70 वर्षो में जिस तरह फूट डालो राज करो की नीति पर चलकर वर्ग विद्वेष वर्ग संघर्ष को बढावा दिया गया उसका परिणाम गृह युद्ध के रुप में आना संभावित है। मोदी के पूर्व हिन्दू 70 वर्षो तक दूसरे दर्जे का नागरिक बनकर रहा। अब वह बराबरी चाहता है और यदि समान नागरिक संहिता का विरोध हुआ तो हिन्दू नेता उसका दूरुपयोग करके मुसलमानों को दूसरे दर्जे का नागरिक बनाने का प्रयत्न करेंगे। स्वाभाविक है कि गृहयुद्ध हो सकता है। हमने आदमी को आदमी मानने की अपेक्षा उसे हिन्दू मुसलमान सवर्ण अछूत आदिवासी गैर आदिवासी महिला पुरुष के रुप में बाटने का जो राजनैतिक षडयंत्र किया है उसे या तो छोडना होगा और नही तो परिणाम भुगतना होगा।

मैं आपसे सहमत हूँ कि ब्रिटिशकाल की शासन प्रणाली में भी सुधार करना होगा। जिस तरह हम सेक्स की चर्चाओं को बढाचढाकर उसका राजनैतिक लाभ उठाने का प्रयास कर रहे है वह भी बहुत घातक होगा। महिलाओं

को सुरक्षा देने की अपेक्षा उन्हें हिंसक प्रतिरोध का प्रोत्साहन बहुत आकर्षक भले ही हो किन्तु बहुत घातक अवश्य है। महिलाओं को प्रसन्न करने के लिए महिला सशक्तिकरण का प्रयत्न भी भविष्य में संकट का कारण बनेगा भले ही अभी हिन्दू मुसलमान की समस्या के समक्ष वह कमजोर दिख रहा हो। या तो हमें राजनीति पर सामाजिक नकेल कसनी होगी या गृहयुद्ध का परिणाम भोगना होगा। मैं इस संबंध में निराश नहीं हूँ क्योकि नरेन्द्र मोदी के बाद जडता टूट रही है। 70 वर्षो की अव्यवस्था का समाधान करने में तानाशाही आगे आ रही है। यदि समाधान के बाद भी तानाशाही का दुरुपयोग बढा तो निश्चित है कि आम जनता में स्वतंत्रता की भूख पैदा होगी। वर्तमान तानाशाही एक अल्पकालिक दवा के रुप में है किन्तु वह स्वास्थवर्धक नहीं है। यह बात हमें समझनी चाहिए और समझाना चाहिए।

न्यायिक सकियता कितनी उचित

पिछले दिनों न्यायपालिका ने चार महत्वपूर्ण निर्णय दिये– 1 निजता का अधिकार। 2तीन तलाक 3 दिवाली में पटाखा का उपयोग। 4 अवयस्क पत्नी के शारीरिक संबंध अवैध। यदि हम कुल मिलाकर विधायिका और न्यायपालिका के बीच आकलन करें तो विधायिका न्यायपालिका की तुलना में कई गुना अधिक गलत है। किन्तु यदि हम सिर्फ न्यायपालिका की समीक्षा करें तो उपरोक्त चार सकियताओं में से निजता के अधिकार को छोडकर बाकी तीनों मामलों में न्यायपालिका का हस्तक्षेप अनावश्यक है। तीन तलाक के संबंध में न्यायपालिका को विचार ही नही करना चाहिए था क्योंकि वह पूरी तरह सामाजिक विषय है। जब किसी भी व्यक्ति को चाहे वह महिला हो या पुरुष उसकी सहमति के बिना एक मिनट भी किसी आंतरिक समझौते के अन्तर्गत रोककर नहीं रखा जा सकता तब तलाक एक हो या तीन हो या दस इसका प्रश्न ही कहां खडा होता है । इसी तरह विवाह के संबंध में भी राज्य के कानून गलत हैं न कि सामाजिक व्यवस्था । यदि कोई 15 वर्ष की लडकी किसी भी रुप से स्वयं को न रोक सके तब उसके लिए न्यायालय या कानून ने क्या व्यवस्था की है? यदि आप किसी की प्राकृतिक भूख पर कोई निर्देश जारी करते है तो आपका दायित्व है कि आप उसकी वैकल्पिक व्यवस्था भी करें। इसी तरह पटाखा या बम दिवाली पर फूटना उचित नहीं है किन्तु यह रोकना उस क्षेत्र के नगर निगम का काम है न कि सरकार का, न कि न्यायालय का। उससे प्रदूषण फैलता है यह सोचना न्यायालय का काम नहीं है । न्यायपालिका अपने मुकदमें 20–30 साल तक न निपटावें और बाकी सब फालतू फालतू कामों में अपना समय लगाती रहे यह उचित नहीं। मेरे विचार से न्यायपालिका को इस मामले में हस्तक्षेप करने का लोभ छोडना चाहिए।

आरुषि हत्या काण्ड

आरुषि हत्या काण्ड मामले में न्यायालय से आरुषि के माता पिता की भी रिहाई हो चुकी है। अब तक यह स्पष्ट नहीं है कि आरुषि की हत्या किसने की। यह भी स्पष्ट नहीं है कि आरुषि के माता पिता दोषी होते हुए भी छूट गये या निर्दोष होते हुए भी इतने वर्ष जेल में रह गये। किन्तु इस घटना ने दो महत्वपूर्ण प्रश्न खडे कर दिये हैं–

1) पुलिस या जांच टीम द्वारा निर्दोष सिद्ध व्यक्ति को यदि न्यायालय आदेश देकर न्यायालय में मुकदमा प्रस्तुत कराता है और वह व्यक्ति निर्दोष सिद्ध होता है तो दोषी कौन? क्या इस प्रकिया पर फिर से विचार नहीं होना चाहिए? न्यायालय आदेश देकर अपने पास मुकदमा प्रस्तुत करावे और फिर वही न्यायालय निर्णय करे इसमें न्याय के प्रति संदेह पैदा होता है।

2) यदि किसी परिवार का मुखिया बिना किसी खराब नीयत के अपने संरक्षित किसी की हत्या कर दे तो ऐसी हत्या खराब नीयत वाले की हत्या की तुलना में कम गंभीर अपराध होना चाहिए। यदि आरुषि और हेमराज के किसी अनैतिक कार्य से क्षुब्ध होकर माता पिता ने हत्या भी कर दी तो वह हत्या बुरी नीयत से नहीं की गई बल्कि पारिवारिक या समाजिक परम्पराओं की सुरक्षा के लिए की गई। हत्या हत्या है चाहे वह अच्छी नीयत से हो या बुरी नीयत से। अपराध तो होगा ही किन्तु दोनों अपराध एक समान नहीं माने जा सकते क्योंकि परिवार एक संगठन है और संगठन के अनुशासन के निमित्त कोई आपराधिक कार्य उतना गंभीर नहीं माना जा सकता जितना किसी अन्य

द्वारा किया गया आपराधिक कार्य। आज कल एक गलत धारणा प्रचलित हो गई है कि औनर किलिंग अधिक गंभीर अपराध है क्योंकि मरने वाला मारने वाले की सुरक्षा में था। प्रश्न सुरक्षा का नहीं है बल्कि नीयत का है। यदि किसी ने अपने परिवार के किसी सदस्य की सम्पत्ति हडपने के लिए उसकी हत्या कर दी तो वह गंभीर अपराध होगा किन्तु यदि परिवार का कोई सदस्य किसी दूसरे की सम्पत्ति हडपना चाहता है और उसकी हत्या कर दी जाये तो ऐसी हत्या अपराध होते हुए भी कम अपराध मानी जानी चाहिए। मेरे विचार से तलवार दम्पत्ति का मुकदमा प्रस्तुत करने का आदेश कानून सम्मत होते हुए भी उचित नहीं था। साथ ही तलवार दम्पत्ति को दी गई आजीवन कारावास की सजा कानून सम्मत होते हुए भी गलत थी।

यदि आरुषि हेमराज अवयस्क होते हुये भी आपराधिक कार्य कर रहे थे और उस अपराध के लिए गैरकानूनी तरीके से किसी ने दण्डित कर दिया तो यह दण्ड एक गैरकानूनी कार्य है, कोई अपराध नहीं। गैरकानूनी कार्य के लिए आपराधिक दण्ड नहीं हो सकता। मान लीजिए कि किसी पुलिस वाले ने अपने किसी व्यक्तिगत विरोधी की व्यक्तिगत कारणों से हत्या कर दी और उसने किसी गंभीर अपराधी को बार बार न्यायालय से निर्दोष छूट जाने के कारण हत्या कर दी तो दोनों घटनाओं में एक समान दण्ड नहीं हो सकता क्योंकि दोनों घटनाओं में नीयत का फर्क है। यदि कानून एक समान मानता है तो कानून गलत है,न्यायालय गलत है, न कि कानून का पालन करने वाला।